

द्वितीय अध्याय

समाज, साहित्य, यथार्थ और
सामाजिक यथार्थ

द्वितीय अध्याय

समाज, साहित्य, यथार्थ और सामाजिक यथार्थ

2.1. समाज क्या है?

‘समाज’ उस संस्था का नाम है जिसमें मानव अपने तमाम रीति-नीति, धर्म-संस्कृति के साथ निवास करता है। इनके (समाज के) आपसी मेल-जोल के विभिन्न तरीके हो सकते हैं। मानवीय संबंधों का ताना-बाना ही समाज नामक संस्था को चरितार्थ करता है। वस्तुतः समाज ही वह संस्था है जहाँ व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को संपूर्णता एवं सार्थकता प्रदान कर पाने में सक्षम हो पाता है। मनुष्य के अंदर संस्कार पैदा करने का कार्य समाज का ही है। समाज में रहने वाले लोगों के लिए कुछ नियम और शर्तें बनाई जाती हैं जो समाज में रहने वाले लोगों पर लागू होती हैं और समाज में रहने वाले तमाम लोग उस समाज के नियम और शर्तों को मानने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। अर्थात् अनुशासनबद्ध मानव-समूह को ही समाज कहा गया है। मनुष्य को सभ्य मानकर उसे सामाजिक प्राणी कहा गया है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह अकेला नहीं रह सकता जिसे आधुनिक विज्ञान भी सिद्ध कर चुका है। समूह में रहने की इच्छा सभी मनुष्यों में पाई जाती है। ‘मानक हिन्दी कोश’ में रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत से लोगों के एक स्थान पर रहने वाले समूह को ‘समाज’ कहा है, जिसमें विशिष्ट संप्रदाय के लोगों की सभा या विशिष्ट उद्देश्य से स्थापित हुई सभा भी सम्मिलित है। अरस्तू ने भी मनुष्य को

‘सामाजिक प्राणी’ कहा है। व्यक्तियों के संगठित समूह को ही ‘समाज’ कहा गया है। समाज में होनेवाले बदलाव समाज में रहनेवाले मनुष्य पर असर डालते हैं और उसके सकारात्मक और नकारात्मक प्रभावों से मनुष्य प्रभावित भी होता है। समाज को सुचारु और सुव्यवस्थित ढंग से अग्रसर होने के लिए तय नियम का पालन करना बहुत ही जरूरी हो जाता है। इस संदर्भ में सरला दूबे लिखती हैं-“प्रत्येक समाज में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त कुछ आदर्श नियम होते हैं, जो कि उस समाज की संस्कृति के अभिन्न अंग होते हैं और संस्कृति तथा समाज व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि समाज के सदस्य अपने व्यवहारों को उन्हीं आदर्श नियमों के अनुरूप ढालें जिससे कि सदस्यों के सामान्य उद्देश्यों के साथ-साथ सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति भी संभव हो।”¹ समाज को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने की जिम्मेदारी प्रत्येक मनुष्य की होती है। स्वार्थ को परे रखकर समाज के विकास में योगदान करना हर एक की जिम्मेदारी होनी चाहिए और समाज-व्यवस्था इस तत्व की ही मांग करती है। ‘समाज’ के संदर्भ में आनंद कुमार लिखते हैं-“समाज किसान का एक खेत है। प्रत्येक सामाजिक प्राणी उसमें सहयोग का बीज बोते हैं। खेत ही नहीं, समस्त उर्वर धरा मात्र का यह गुण है कि वह एक बीज लेकर उसे सूद सहित वापस करती है। एक बीज के बदले वह किसान को दस बीज देती है। लेन-देन की यही रीति समाज की भी है। मनुष्य समाज को थोड़ा ही सहयोग देता है; किन्तु कृतज्ञ समाज उसे सहयोग के बदले में अपना महान सामूहिक सहयोग प्रदान करता है।”²

यह सर्वविदित है कि मनुष्य ने जितना समाज को दिया है, समाज ने उसके बदले में उसे कहीं अधिक लौटाया है। साहित्यकार भी उसी समाज का अंश होता है तो उसमें हो रहे तमाम बदलावों की पड़ताल करते हुए अपनी लेखनी के रंगों से पाठक-वर्ग के अन्तर्मन को गहराई से सोचने-विचारने हेतु बाध्य करता है।

समाज के अभाव में किसी भी मनुष्य का अस्तित्व समाप्ति की ओर अग्रसर हो जाता है। मनुष्य, समाज की महत्वपूर्ण इकाई है। समाज को सुखी, स्वस्थ और विकास की ओर ले जाना प्रत्येक मनुष्य की जिम्मेदारी होती है। वैसे समाज कई भागों में विभाजित होता है; लैंगिक स्तर पर, जाति के आधार पर, अर्थ के आधार पर और वर्ग में विभाजित हो कर। समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य का अध्ययन करने पर एक सामान्य तथ्य उभरता है कि साहित्य का संबंध समाज और उसके परिवेश के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है। समकालीन समय की कहानियां 'समाज' तथा उसकी विभिन्न समस्याओं का बहुआयामी चित्रण करती हैं। समाज में अलग-अलग जाति, धर्म, संस्कृति के लोग रहते हैं और इनके रहन सहन में खान-पान में विविधता दिखाई देती है। अतः साहित्यकार का यह परम कर्तव्य है कि बिना भेद-भाव के समाज की विसंगतियों का चित्रण करे। समकालीन कहानीकार ने इस संदर्भ में अपने को बार-बार साबित किया है। साहित्य का सरोकार समाज से है, समकालीन कहानीकारों ने इस बात को बखूबी समझा है।

2.1.1. व्यक्ति:

व्यक्ति समाज की सबसे छोटी इकाई है। व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। परिवार में जन्म लेने के साथ ही व्यक्ति समाज का अंग बन जाता है तथा उसपर समाज का अधिकार और उसका समाज से सरोकार हो जाता है। समाज के रीति-रिवाज उसके रीति-रिवाज हो जाते हैं, समाज की संस्कृति और सभ्यता उसकी संस्कृति और सभ्यता हो जाती है और ये तमाम चीजें उसकी अपनी पहचान बन जाती हैं। इसके साथ ही समाज के विकास और नवनिर्माण का उत्तरदायित्व भी उसके कंधे आ जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का विकास उसके अपने समाज से जुड़ा हुआ होता है। जैसा समाज का वातावरण होता है, व्यक्ति उसके अनुसार ढल जाता है। व्यक्ति सर्वप्रथम अपने समाज के प्रति उत्तरदायी होता है। उसके व्यक्तित्व के विकास से समाज का विकास जुड़ा हुआ होता है। आगे चलकर व्यक्ति अपने समाज के साथ-साथ अपने राष्ट्र के विकास में भी अपना योगदान देने के लिए प्रतिबद्ध हो जाता है। तत्पश्चात् उसकी पहचान राष्ट्रीय स्तर पर होने लगती है। इस तरह हम देखते हैं कि व्यक्ति का कर्तव्य अपने समाज और राष्ट्र के प्रति कितना महत्वपूर्ण होता है। अपने कर्तव्यों को निभाकर व्यक्ति समाज और राष्ट्र में प्रतिष्ठा हासिल करता है और अपनी प्रतिबद्धता को साबित कर एक सफल नागरिक होने का गौरव प्राप्त करता है।

2.1.2. परिवार:

‘परिवार’ शब्द अंग्रेजी के ‘फैमिली’(Family) का ही हिन्दी रूपान्तरण है। रिश्ते-नातों से भरे-पूरे संसार को ‘परिवार’ नाम की संस्था के रूप में जाना जाता है, जिसमें माता-पिता के अलावा भाई-बहन, दादा-दादी, चाचा-चाची के साथ अन्य सगे-संबंधी एक साथ रहते हैं। इसे समाज की दूसरी इकाई के रूप में जाना जाता है। जी.ए. लुण्डवर्ग परिवार व्यवस्था के महत्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं-“सामाजिक व्यवस्था में यदि पुनरोत्पादन न हो, यदि संतान का पालन-पोषण न हो और यदि उसमें विचाराभिव्यक्ति की क्षमता, सहयोग भावना न हो तो समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा”³ इसके अलावा पश्चिमी विद्वान आगबर्न और निमकाफ के अनुसार-“संतान सहित या संतान रहित एक दंपति या किसी एक स्त्री या पुरुष का अपनी संतान के साथ स्थायी या अस्थायी संग-साथ ही परिवार है।”⁴ उपर्युक्त विद्वानों की परिभाषा के अनुसार परिवार सुचारु रूप से चलाने के लिए पति-पत्नी का संबंध और संतानोत्पत्ति के अलावा उसके पालन-पोषण पर भी निर्भर करता है।

परिवार शब्द द्योतक है-एक सार्वभौमिक, स्थायी तथा व्यापक संस्था का, जिसकी विशेषता होती है सामाजिक दृष्टि से अनुमत यौन संबंध तथा प्रजनन, समान घर, आवास और घरेलू सेवाएं तथा आर्थिक सहयोग। प्राचीन समय में व्यवस्था स्त्री को इस बात की अनुमति देती थी कि वह संतानोत्पत्ति के लिए अपने पति के अलावा किसी अन्य पुरुष से संबंध स्थापित कर सकती है और उस संतान को उसके सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत पिता के वंश में शामिल भी कर लिया जाता था। आगे चलकर नायरों के 'ताली संस्कार' के माध्यम से अनेक पुरुष एक स्त्री के साथ संबंध बना सकते थे तथा एक लॉकेट वाला जंजीर पहना कर उस स्त्री पर यौन अधिकार प्राप्त कर लेते थे और ये अधिकार सामूहिक भी हो सकता थे। इस व्यवस्था को 'संबंधम्' का नाम दिया गया था। इस व्यवस्था का लाभ खासकर उच्चतर जाति के लोगों को मिलता था। वे जिस स्त्री के प्रति आकर्षित हो जाते थे, उस पर 'संबंधम्' के द्वारा अधिकार प्राप्त कर लेते थे। लेकिन 'संबंधम्' के आधार पर संबद्ध पुरुष को पति या पिता के रूप में ऐकांतिक अधिकार नहीं होता था। स्त्री चाहे तो वह किसी भी समय अपना दिया गया यौन अधिकार वापस ले सकती थी। भारत के अधिकतर समाज समुदायों में वंश-नाम पिता की परंपरा में तलाशा जाता है, जो पितृवंशी वंश-नाम कहा जाता है। लेकिन उत्तर-पूर्व में गारो, खासी और प्रार तथा दक्षिण भारत के नायर मप्पिला, लक्षद्वीप-वासी और अनेक आदिवासी तथा गैर आदिवासी समूह में मातृ-वंश-नाम समाज देखने को मिलता है।

हमारी सामाजिक व्यवस्था में पहले संयुक्त परिवार की संस्था को परिवार की संज्ञा दी जाती थी। परंतु कालान्तर में परिवार छोटे होने लगे और संयुक्त परिवार बँट कर एकल परिवार के रूप में सामने आया, जिसमें पति-पत्नी के अलावा उनके बच्चों का ही स्थान रहा। परिवार का ढांचा ही बदल गया। इसकी सामाजिक आवश्यकताओं और भूमिकाओं में भी परिवर्तन आ गया।

काशीनाथ सिंह ने जिस समाज को देखा था या वो जिस समाज से आते हैं, उसका ढांचा भी इससे कुछ अलग न था। परिवार का मुखिया पिता ही था, परिवार संयुक्त ही थे। परंतु संयुक्त परिवार का ढांचा अब धीरे-धीरे समाज के नक्शे से गायब होता जा रहा है आलोच्य कथाकार की रचनाओं में यह दंश स्पष्टतः देखा जा सकता है। काशीनाथ सिंह के कथा-साहित्य पर नजर डालेंगे तो हम यह पाएंगे की परिवार और परिवार-बोध के तत्व उनकी कहानियों और उपन्यासों में अपनी पूरी प्रतिष्ठा के साथ मौजूद हैं।

2.1.3. आस-पड़ोस:

समाज के अन्तर्गत बहुत सारे परिवारों के समूह एक साथ रहते हैं। एक परिवार के अगल-बगल में निवास करनेवाले परिवारों को 'आस-पड़ोस' या 'पड़ोसी' के नाम से अभिहित किया जाता है। इनमें विचारों के साथ धर्म-

संस्कृति का भी अंतर हो सकता है। फिर भी इनका महत्व अपने आस-पास के परिवारों के लिए कम नहीं होता। एक-दूसरे के सुख-दुःख में इनका साथ देना एक महत्वपूर्ण बात है। इनके धर्म-संस्कृति तथा रीति-नीति में विविधता पाई जा सकती है। परन्तु समय के साथ 'आस-पड़ोस' की प्रकृति में भी बदलाव आया है क्योंकि अब गाँव, नगर और कस्बों में रहनेवाले लोग और उनके पड़ोसियों के संबंध में अंतर पाया जाता है। कल तक जो संवेदनात्मक संबंध इनमें एक-दूसरे से जुड़े हुए होते थे, वे अब मलीन हो चुके हैं। एक समय ऐसा भी रहा है जब पड़ोसी के बच्चे एक-दूसरे के घर खेलते और खाते थे, पारिवारिक संबंध थे। एक-दूसरे के दुख में शामिल होना एक-दूसरे का पहला कर्तव्य होता था। परन्तु वह समय अब बीत चुका है अथवा बीतने के कगार पर है। आज हमारे पड़ोस में कौन है और क्या करता है? हमें इसका पता प्रायः नहीं चलता। अगर पड़ोसी अपने कमरे में दम तोड़ दे तो भी इसकी भनक हमें नहीं लगती। जब उसके कमरे से बदबू आने लगती है, तब जा कर हमें पता चलता है कि वह 2-3 दिन पहले ही अपने कमरे में अपने अकेलेपन से लड़ता हुआ दम तोड़ गया। कहानीकार निर्मल वर्मा की कहानियों में प्रायः ऐसे दृष्टांत मिलते हैं।

पड़ोसी का मतलब होता है- एक-दूसरे के दुःख-सुख में जहां तक संभव हो सके साथ देना। एक-दूसरे की खुशियों को बाँटना। लेकिन आधुनिक समय (जिस पर वैश्वीकरण की मार पड़ी है) में पड़ोसी के अर्थ और उसकी

परिभाषा में आमूल परिवर्तन लक्षित होता है। अब पड़ोसी एक-दूसरे के दुःख-सुख में काम आने से बचते हैं, कन्नी काटते हैं। आज जमाना 'सोशल मीडिया' का है, जहां हमारे पास तो 'फेसबुक', 'व्हाट्स एप्प', 'ट्विटर', 'इंस्टाग्राम' आदि पर तो हजारों-लाखों मित्र हैं और उनके साथ हमारा संवाद भी स्थापित होता है। लेकिन अपने पड़ोस में रहनेवाले के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं होती। यह वर्तमान समय की विडंबना ही तो कही जाएगी। पड़ोसी का साथ अब गुजरे जमाने की चीज हो चुकी है। लोग अब अपने घरों में बंद हुए कैदी की जिंदगी जी रहे हैं। 'फ्लैट' का जीवन 'फ्लॉट' (सपाट) हो चुका है।

2.1.4. जाति:

'जाति' शब्द भ्रम उत्पन्न करनेवाला है। अलग-अलग संदर्भों में इसे भिन्न-भिन्न अर्थों में विभिन्न सामाजिक श्रेणियों के लिए प्रयोग में लाया जाता है। हमारे देश में विभिन्न तरह की सैकड़ों जातियाँ पाई जाती हैं, जिनकी अपनी भाषा, बोली, और संस्कृति होती हैं। प्राचीन समय से हमारा समाज कई वर्गों में बँटा रहा है और उसके अन्तर्गत प्रत्येक श्रेणी में कई जातियों का समावेश होता रहा है। जाति-प्रथा तो पुराने समय की देन है, जो हमारे समाज पर कोढ़ की तरह है। हमारे समाज में उच्च वर्ग और निम्न वर्ग की पहचान करने की एक कसौटी जाति भी है। यथा- "1901 की जाति आधारित जनगणना के अनुसार भारत में दो हजार से अधिक जातियाँ निवास करती

हैं।”⁵ कुछ समय पहले तक लोग एक-दूसरे से संवाद के शुरुआत में ही उसकी जाति के बारे में पूछ लेते थे तब बात आगे बढ़ती थी। लेकिन गनीमत है कि अब वह चित्र शनैः शनैः बदल रहा है। अब भी गाँवों में इस जाति-प्रथा का प्रकोप हावी है और कितनों के घरों और जिंदगियों को खराब कर चुका है।

2.1.5. समाज : सांस्कृतिक पक्ष:

समाज में जितने भी लोग रहते हैं, उनकी अपनी एक भाषा होती है और कई बार वे एक धर्म के अनुयायी भी होते हैं। पुराने समय से हमारे देश में पश्चिमी हमले होते रहें हैं और विभिन्न धर्म, जाति भाषा के लोग अपनी तमाम संस्कृतियों के साथ भारत में बसते रहे हैं। इसके साथ ही समय-समय पर भाषा और धर्म के नाम पर लोगों को बाँटा गया है। इतिहास साक्षी रहा है कि आजादी के बाद इसका सबसे ज्यादा फायदा राजनीति से जुड़े लोगों ने उठाया है। हमारे देश को भाषा और धर्म के नाम पर सबसे ज्यादा लूटा गया है। अखंड भारत को बाँटने में भी उक्त तत्वों का हाथ कम नहीं रहा है। भाषा और धर्म को एक ऐसी खाई के रूप में स्थापित कर दिया गया है जो कभी पाटी नहीं जा सकती। भारत में भिन्न-भिन्न भाषा और धर्म के लोग निवास करते हैं और वे सभी संपूर्णता में भारतवासी हैं। परन्तु समाज में कुछ ऐसे तत्व हमेशा से मौजूद रहें हैं जो देश की जनता को दिग्भ्रमित करने की कोशिश समय-समय पर करते रहते हैं। इस तरह देश के अंदर आपसी

मतभेद उत्पन्न करने में ऐसे लोग सफल हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में देश को विकास के रास्ते पर ले जाना मुश्किल-सा जान पड़ता है।

2.1.6. समाज: आर्थिक-पक्ष:

समाज के संदर्भ में एक कड़वी सच्चाई यह है कि यह कई भागों में बँटा हुआ होता है। हमारा समाज वर्णों के साथ-साथ वर्गों में बँटा हुआ है। उसका मूल कारण 'अर्थ' है। अर्थ अपनी भूमिका इस प्रकार निभाते आया है कि उसके द्वारा बनाई गई खाई पटने की बजाय और भी गहरी होती चली गई है। प्राचीन समय से वर्ण चार भागों में बँटा हुआ है, जो विद्वानों के अनुसार कर्म आधारित था। यह विभाजन कुछ इस प्रकार है:

1. ब्राह्मण
2. क्षत्रिय
3. वैश्य और
4. शूद्र

वर्ण-व्यवस्था, हिन्दू-धर्म में सामाजिक विभाजन का एक आधार है। वर्णों का यह बँटवारा हमारे समाज में आज भी कायम है। परन्तु यह अब कर्म-आधारित न होकर जन्म-आधारित हो गया है। जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था का ही विकसित रूप है। दूसरी तरफ है- वर्ग-व्यवस्था, जो तीन भागों में विभाजित माना है-1. उच्च वर्ग 2. मध्यवर्ग 3. निम्न वर्ग

1. उच्च वर्ग:

आर्थिक दृष्टि से संपन्न वर्ग को उच्च-वर्ग कहा जाता है। इस वर्ग का वर्चस्व समाज में सबसे अधिक देखने को मिलता है। साधारणतः यह वर्ग व्यापार या व्यवसाय से संबंधित रहता है और अपने से नीचे के वर्गों पर अपना हुकम चलाता है। यह काम स्वयं नहीं करता बल्कि अपने से निचले वर्ग के लोगों से काम करवाता है तथा उनका शोषण करता है। यह वर्ग पूंजी का विस्तार देखने के लिए लालायित रहता है और इसके लिए किसी भी हद तक जा सकता है। पूंजीवादी व्यवस्था में इस वर्ग के पौ-बारह हो गए। इसने पूंजीवादी व्यवस्था का खूब लाभ उठाया और अपनी आर्थिक मजबूती को खूब बढ़ाया। परिणाम यह हुआ कि मध्यवर्ग की स्थिति में ज्यादा कुछ सुधार तो न हुआ और निम्न वर्ग की स्थिति और दयनीय हो गई।

2. मध्यवर्ग:

यह वर्ग दुनिया के सबसे बड़े तबके के रूप में जाना जाता है। यह वर्ग उच्च-वर्ग और निम्न वर्ग के बीच में एक कड़ी के रूप में कार्य करता है। यह भी सच है कि सत्ता की चाबी उच्च-वर्ग के हाथ में रहती है। लेकिन उच्च-वर्ग को सुचारु तरीके से सत्ता चलाने में मध्यवर्ग की सहायता लेनी ही पड़ती है। इसकी आर्थिक स्थिति न संपन्नता वाली होती है, न ही विपन्नता वाली। इस वर्ग में नौकरी-पेशा शिक्षक, क्लर्क आदि वर्ग से लोग आते हैं।

3. निम्न वर्ग:

पूंजीवादी व्यवस्था ने निम्नवर्ग को और नीचे धकेल दिया। इनमें किसान और मजदूर वर्ग के लोग आते हैं। पूंजीवादी का प्रभाव कुछ ऐसा पड़ा कि उच्च-वर्ग और निम्नवर्ग के बीच की खाई और गहरी हो गई। निम्नवर्ग पहले की अपेक्षा और विपन्न हो गए। जब समाज में उच्चवर्गीय सोच और उनका शोषण हावी होने लगता है, तब निम्नवर्ग की संख्या में वृद्धि होने लगती है।

2.1.7. समाज : राजनीतिक पक्ष:

भारतीय समाज में राजनीति का स्थान सदा से शक के दायरे में रहा है। परंतु इससे उसकी महत्ता कम नहीं हो जाती है। इसका संबंध सत्ता चलानेवालों से होता है और इसे वे अपने हाथों की कठपुतली समझते हैं। इतिहास गवाह है कि राजनीति जब-जब समाज पर हावी हुई है, तब-तब उसने समाज का नुकसान ही किया है। आजादी के लगभग 70 सालों के बाद भी हमारे समाज की जो स्थिति है वह किसी से छुपी नहीं है। पहले हम उपनिवेशवादी सत्ता के गुलाम थे और अब अपने ही देश के सत्ताधीशों के हाथों गुलाम हैं।

2.2. साहित्य क्या है?

‘साहित्य’ शब्द को परिभाषित करना कठिन कार्य है। फिर भी साहित्य को समझने का प्रयास किया जाता रहा है। साहित्य मानव जगत का इतिहास है, साहित्य मानव जगत का वर्तमान है। साहित्य मानव जगत के अतीत को वर्तमान से जोड़ता हुआ भविष्य भी तय करता है। सीधे और सपाट शब्दों में ‘साहित्य समाज का दर्पण है।’ आचार्य कुंतक साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखते हैं- “जहाँ शब्द और अर्थ के बीच सुंदरता के लिए होड़ लगी हो, तब साहित्य की सृष्टि होती है।”⁶ लेकिन संस्कृत साहित्य में साहित्य का अभिप्राय मात्र ‘काव्य’ से है, इसलिए आधुनिक संदर्भ में संस्कृत आचार्यों की साहित्य संबंधी परिभाषा साहित्य को पूर्ण रूप में परिभाषित कर पाने में अक्षम है। हिन्दी साहित्य का इतिहास की भूमिका में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य की जो परिभाषा देते हैं, वह अधिक सटीक लगती है-“प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता का चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है।”⁷ आचार्य रामचंद्र शुक्ल की साहित्य संबंधी ये परिभाषा साहित्य को कुछ हद तक तो परिभाषित करती है लेकिन पूर्णतः नहीं। लेकिन हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी की उक्त परिभाषा का अपना एक अलग ही महत्त्व है। इसके पश्चात भी हिन्दी साहित्य के विभिन्न विद्वानों ने साहित्य को अपने-अपने तरीके से परिभाषित करने की कोशिश की है।

साहित्य का अर्थ ही है-हित करनेवाला। मानव-समाज परिवर्तनशील है और इसमें निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं, जो हमारे जीवन को प्रभावित करते रहते हैं। साहित्य इससे अछूता नहीं रह सकता। वास्तव में साहित्य यथार्थ की प्रतिकृति है और यथार्थ साहित्य को समकालीन परिवेश से जोड़ता है। साहित्य में जीवन-संबंधी यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है। समाज की गतिविधियों और घटनाओं से साहित्य सदा स्पंदित और सजीव होता रहा है। 'साहित्य सहचर' में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्य पर विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं-*"साहित्य मानव-जीवन से सीधा उत्पन्न होकर सीधे मानव-जीवन को प्रभावित करता है। साहित्य पढ़ने से हम जीवन के साथ ताजा और घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं। साहित्य में उन सारी चीजों का जीवन्त विवरण होता है, जिन्हें मनुष्य ने देखा है, अनुभव किया है, सोचा है और समझा है। जीवन के जो पहलू हमें नजदीक से और स्थायी रूप से प्रभावित करते हैं, उनके विषय में मनुष्य के अनुभवों को समझने का एकमात्र साधन साहित्य है।"*⁸ यह कहा जा सकता है कि साहित्य से अलगाव मनुष्य को विचलित कर सकता है, उसके विकास को बाधित कर सकता है। साहित्य मानव-जीवन से उत्पन्न होकर मानव-जीवन को ही समझने का मौका प्रदान करता है।

सभ्यता के विकास के चरण में जब सभ्य समाज की स्थापना हुई और समाज के लोग अपने दैनिक कार्यों में लिप्त रहते हुए, अपने

पारिवारिक और सामाजिक जीवन का सुख भोगने लगे, तब नृत्य, संगीत का भी प्रादुर्भाव हुआ। भाषा के विकास के फलस्वरूप मनुष्य का लयबद्ध तरीके से गुनगुनाना और संवादों की अभिव्यक्ति सुनने वालों को आकर्षित करने लगी, जिसे देख लेखक के अंदर प्रेरणा प्रस्फुटित हुई और कविता का स्वर फूट पड़ा। आगे चलकर नाटक, कहानी, उपन्यास का विकास हुआ जिनका कथ्य भी उसी समाज की घटनाओं से लिया गया। इतना जरूर है कि रचनाकार ने अपने बुद्धि-विवेक के बल पर इसमें कुछ परिवर्तन कर दिया था।

अतः जीवन से जुड़े सामाजिक यथार्थ का कलाकृति के रूप में अंकन करना ही साहित्य है और उसके परिवेश का चित्रण यथार्थ है। समाज में घटनेवाला यथार्थ का जब साहित्य में निरूपित होता है, तब वह सामाजिक यथार्थ कहलाता है, जिससे कोई पृथक् नहीं हो सकता। हाँ, उसमें परिवर्तन कर रचनाकार आदर्श का जामा पहना जरूर सकता है। हिन्दी के उपन्यास सम्राट तथा महान कहानीकार प्रेमचन्द ने साहित्य को परिभाषित करने की कोशिश की है। उन्होंने साहित्य की परिभाषा देते हुए लिखा है-“साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सुंदर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो।”⁹ समाज की सच्चाइयों से अवगत कराने का मुख्य कार्य ही साहित्य का होता है और जो बिना किसी छल-छद्म के तथ्यों को जनता के

समक्ष ही प्रस्तुत करने की कोशिश करता है और उसके दिलों-दिमाग पर असर डालने का भी माद्दा रखता है।

2.2.1. साहित्य का प्रयोजन:

साहित्य के अभाव में स्वस्थ मानव समाज की कल्पना कतई नहीं की जा सकती। साहित्य मानव-समाज के संस्कार का कार्य करता है और इसके साथ ही उसके भविष्य का पथदृष्टा भी बनता है। साहित्य, मानव जगत का बीता-अनबीता इतिहास है, जो उसके वर्तमान से जुड़ा हुआ होकर उसका भविष्य भी तय करने में मदद करता है। एक तरह से साहित्य, मानव-जगत का लेखा-जोखा है। चूंकि साहित्यकार भविष्यदृष्टा भी होता है इसलिए वह समाज में व्याप्त विसंगतियों, विडंबनाओं आदि का वर्तमान कसौटी पर परीक्षण करता है और यह सुनिश्चित करता है कि समाज के पुनर्निर्माण के लिए किन-किन तत्वों में बदलाव की आवश्यकता है। स्वस्थ समाज और उसके निरन्तर विकास के लिए साहित्य का होना बहुत ही आवश्यक है। साहित्यकार अपनी रचना के माध्यम से समाज के कच्चे-चिट्टे खोलता है और उसका सही दिशा में बढ़ने के लिए उत्साहित करता है। समय-समय पर साहित्य का उपयोग जीविकोपार्जन हेतु भी किया जाता रहा है। आधुनिक समय में अर्थ एक बहुत बड़ी भूमिका का निर्वाह करता है और साहित्यकार भी इससे अछूता नहीं। सामाजिक कर्तव्यों को निभाने के साथ-साथ साहित्यकार को अर्थ की भी जरूरत पड़ती है। अतः उसका लेखन सामाजिक

सत्य और तथ्य को उजागर करने के साथ-साथ बाजार के उस तबके पर भी निर्भर करता है, जिसमें ऐसे पाठक भी होते हैं, जिन्हें मनोरंजक साहित्य की जरूरत होती है। आधुनिक समय में साहित्य के आधुनिकीकरण के साथ-साथ उसका बाजारीकरण भी हो गया है। अतः साहित्य में सामाजिक यथार्थ को हू-ब-हू चित्रित करना साहित्यकार के लिए मुश्किल भी हो गया है।

2.2.2. साहित्य के अंगोपांगः

साहित्य, समाज का कोरा यथार्थ नहीं होता। साहित्य-रचना के लिए यथार्थ के साथ-साथ कुछ और महत्वपूर्ण अवयवों की आवश्यकता होती है। साहित्यकार 'कच्चा माल' समाज से प्राप्त करता है, फिर वह अपनी साहित्यिक कल्पना का मिश्रण कर साहित्य की विविध विधाओं के माध्यम से पाठक के समक्ष उस 'प्रोसेस्ड' कच्चे माल या पक्के माल को प्रस्तुत करता है। कोरा यथार्थ नीरस होता है, जिसमें पाठक को रसास्वादन का लाभ नहीं मिल पाता और रचना पाठक को प्रभावित करने से चूक जाती है। अतः साहित्य के अंगों के रूप में कल्पना, यथार्थ, रूप-पक्ष एवं कला-पक्ष का विशेष महत्व है।

साहित्य कल्पना के रंग में रंग कर समाज-सापेक्ष हो जाता है। समाज में हो रहे बदलाव और घट रही घटनाओं को सपाट रूप में बयान कर देना साहित्य के विकास में बाधक तत्व के रूप में माना जाता है। साहित्यकार

अपनी रचना के लिए जब भी समाज से किसी घटना को कथ्य के रूप में अपनाता है, तो वह उसे अपनी कल्पना के रंगों से एक नया आयाम देता है अथवा देने की कोशिश करता है। यथार्थ की सपाटबयानी साहित्य के सुस्वास्थ्य हेतु प्रयोजनीय नहीं मानी जा सकती है। ऐसी रचना कभी समाज को कुछ नया नहीं दे सकती तथा बहुत समय तक समय-सापेक्ष हो कर नहीं रह सकती। अतः साहित्यकार अपने बौद्धिक विवेक से अपनी रचना के सकारात्मक पक्ष को ध्यान में रखते हुए उसमें कल्पना के तत्वों का मिश्रण करता है।

यथार्थ की अनिवार्यता कथा-साहित्य में निर्विवाद है। यथार्थ-विहीन साहित्य, साहित्य के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगा देता है। वह साहित्य किसलिए जिसमें जीवन से जुड़ा यथार्थ ही न हो। जो साहित्य समाज के किसी काम न आये, ऐसे साहित्य का क्या मोल? साहित्य मनुष्य-जाति और उसके समूह का इतिवृत्त बतलाता है क्योंकि साहित्य में जिन घटनाओं का प्रयोग किया जाता है, वे सामाजिक-जीवन का ही यथार्थ होती हैं। इसलिए साहित्य में यथार्थ का चित्रण वांछनीय है, जिससे समाज को कुछ मिल सके।

रूप-पक्ष जब तक साहित्य में प्रतिबिम्बित न हो तब तक साहित्यकार अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल सिद्ध होता है। रचनाकार को सुनियोजित तरीके से रचना के रूप-पक्ष को निर्धारित करना पड़ता है। रचना किस रूप में अपना लक्ष्य पा सकेगी और रचनाकार किस रूप में उसे

सही तरीके से अभिव्यक्ति दे पाएगा, यह बहुत महत्वपूर्ण तत्व है। यह कहा जा सकता है कि रचना की जमीन के रूप में रूप-पक्ष कार्य करता है। अगर जमीन न हो तो वैचारिक फसल की बुवाई संभव न होगी।

साहित्य में कलापक्ष का अपना ही महत्व है। कला की विविध सारणियों से साहित्यकार अपनी रचना को सुंदर और सर्वग्राह्य बनाता है। कला अर्थात् भाषा-शैली से साहित्यकार रचना को जीवंतता प्रदान करता है। इसके लिए रचनाकार अपनी रचनाओं में अलग-अलग भाषिक शैलियों का प्रयोग करता है।

2.3. 'यथार्थ' का तात्पर्य: कुछ परिचयात्मक एवं पारिभाषिक बातें:

सीधी-सी बात है कि जो भी रचनाकार जिस परिवेश में फलता-फूलता है, उस परिवेश का असर उस पर स्वाभाविक रूप से पड़ता है और उसके द्वारा सृजन किए गए साहित्य में उस परिवेश का तथा उसके तत्वों का आना निश्चित हो जाता है। काशीनाथ सिंह का बचपन उस गाँव में बीता था, जिसे 'ऊसर गाँव' कहा जाता था और उस 'ऊसर गाँव' से जुड़कर साहित्य के क्षेत्र में इस तरह प्रतिष्ठित हो जाना 'विरले' का ही काम है। लेकिन काशीनाथ सिंह को कथाकार काशीनाथ सिंह के रूप में प्रतिष्ठित करने/होने में इस ऊसर गाँव की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

काशीनाथ सिंह का बचपन गाँव में बीता और अब तक वह गाँव उनके हृदय में विराजता है क्योंकि जो 'घर' गाँव में था/रहा , वह फिर शहर में नहीं रहा। परिवार को लोग देश के विभिन्न कोनों में चले गए रोजी-रोटी की तलाश में। एक बार जो वे गए, तो चले ही गए, दुबारा लौटे नहीं। किसान परिवार में जन्में काशीनाथ सिंह गाँव के किसान की विडंबनाओं को झेलते हुए बड़े हुए। फिर भी उन्होंने एक खूबसूरत बचपन गुजारा है। गाँव की जिंदगी को बहुत करीब से देखा है, गाँववालों के सुख-दुःख में साथ रहे हैं। इसके बाद बनारस आगमन के साथ ही शहर की दौड़-भाग और आपा-धापी से रू-ब-रू हुए। वे पहली बार जिंदगी की कृत्रिमता से दो-चार होते हैं। जिन्दगी की सही परिभाषा उन्हें बनारस आ कर पता चलती है और जब काशीनाथ सिंह लिखते हैं तो इन सभी अवयवों का असर उनके लेखन पर साफ-साफ झलकता है। काशीनाथ सिंह के कथा-साहित्य में आम-आदमी के साथ-साथ, उच्चवर्ग-निम्नवर्ग के संघर्ष, राजनीतिक और सामाजिक यथार्थ का चित्रण भी देखने को खूब मिलता है। चित्तरंजन कुमार से बातचीत के दौरान काशीनाथ सिंह यथार्थ पर अपना विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-
“साहित्य को मैं यथार्थ की प्रतिछवि नहीं मानता। एक लेखक उस यथार्थ को जोड़ता-तोड़ता है। उसका वह नए सिरे से निर्माण करता है। यथार्थ सिर्फ गीली मिट्टी का काम करता है। हम उससे दीया बनाते हैं, घड़ा बनाते हैं या

कुछ और, यह हमारी अपनी कल्पना पर निर्भर करता है।¹⁰ काशीनाथ सिंह के कथा साहित्य में व्याप्त यथार्थ और सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण करने से पहले यह जानना परम आवश्यक है कि 'यथार्थ' शब्द का अर्थ क्या है? यथार्थ की परिभाषा और स्वरूप क्या है? तथा सामाजिक यथार्थ की संकल्पनाएँ क्या हैं?

'यथार्थ' अंग्रेजी के शब्द 'Real' का हिन्दी रूपान्तरण है। इसकी व्युत्पत्ति लैटिन के 'Res' शब्द से हुई है। यथार्थ मूलतः दर्शनशास्त्र से संबंधित शब्द है। 'मानक हिन्दी कोश' के चौथे खण्ड में 'यथार्थ' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ दिया गया है- '1. जो अपने अर्थ(आशय, उद्देश्य, भाव आदि) के ठीक अनुरूप हो। ठीक, वाजिब, उचित। 2. जैसा होना चाहिए, ठीक वैसा।' 'हिन्दी विश्व-कोश' में 'यथार्थ' शब्द का अर्थ दिया है- '1. यथारूप, जैसा ठीक होना चाहिए वैसा, जैसा का तैसा। ठीक, वाजिब।' 'मानक हिन्दी-अंग्रेजी कोश' में 'यथार्थ' का अर्थ इस प्रकार से मिलता है- 'Accurate, matter of fact, real.' शब्दों के उपर्युक्त अर्थों के आधार पर निष्कर्ष यह निकलता है कि- 'यथार्थ' मतलब 'जैसा है वैसा', वास्तविक अथवा जो यथास्थिति है, उसको प्रस्तुत करना ही 'यथार्थ' का अंकन है।

‘यथार्थ’: परिभाषा और स्वरूप:

‘यथार्थ’ की परिभाषा विभिन्न विद्वानों द्वारा विविध रूपों में प्रस्तुत की गई है। डॉ. त्रिभुवन सिंह के अनुसार-“जीवन की सच्ची अनुभूति यथार्थ है।”¹¹ अनुभूति की यथार्थता और ‘यथार्थ’ को श्रेष्ठ साहित्य का मानदंड मानते हुए मुंशी प्रेमचंद ने माना है-“साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गई हो,...साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सच्चाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों।”¹² इस संदर्भ में डॉ. रामदरश मिश्र का कथन भी उल्लेख्य है-“यथार्थ सतह पर फैली हुई गंदगी नहीं है, बल्कि मानव जीवन के बुनियादी प्रश्न, उसके अनेकानेक भीतरी स्वरूपों को बनानेवाली, बदलने वाली परिस्थितियाँ, समस्याएँ, आपसी संबंध और मानव मन के भीतर अनेक गहन रहस्यमय सत्य यथार्थ है।...यथार्थ का स्वरूप बड़ा ही संक्षिप्त, जटिल और परिवर्तनशील होता है। उसे देखने के लिए जीवन का गहरा अध्ययन अपेक्षित होता है।”¹³

उपर्युक्त परिभाषा और अर्थों की विवेचना के फलस्वरूप यह बात ज्ञात होती है कि यथार्थ का संबंध मानव और उसके समाज के विभिन्न अवयवों के साथ गहराई से जुड़ा है। साहित्यकार को रचना के निर्माण और समाज

के यथार्थों का सत्य चित्रण करना है, तो उसे इन तमाम अवयवों के साथ गहराई से जाना होगा।

2.3.1. यथार्थ एवं यथार्थवाद: अंतर्संबंध और उनके विविध चेहरे:

‘यथार्थ’ और ‘यथार्थवाद’ दोनों एक दूसरे के पूरक ठहरते हैं। इनमें एक भेदक रेखा खींचना बहुत ही कठिन कार्य है। यथार्थ आधुनिक युग के साहित्य की प्रमुख वृत्ति है। जीवन के सत्य से जुड़ने के बाद ही साहित्य ग्राह्य होता है। यथार्थ को कलात्मक स्तर पर अभिव्यक्त करना ही यथार्थवाद कहलाता है। इसे यँ भी कह सकते हैं कि यथार्थवाद का कच्चा माल ‘यथार्थ’ से मिलता है। यथार्थवाद की स्थापना के बाद यथार्थवाद को कई रूपों में विभाजित किया गया, जिसमें समाजवादी यथार्थ को सबसे ज्यादा तवज्जोह मिली। आगे चलकर परिष्कृत और परिमार्जित होकर समाजवादी यथार्थ, सामाजिक यथार्थ के रूप में प्रचलित हुआ। सत्यकाम यथार्थवाद के मुख्यतः चार आयामों का जिक्र करते हैं-

1. आलोचनात्मक यथार्थवाद
2. प्राकृतिक यथार्थवाद
3. समाजवादी यथार्थवाद
4. मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद

सत्यकाम यथार्थ के इन रूपों में ‘आलोचनात्मक यथार्थवाद’ को एवं ‘समाजवादी यथार्थवाद’ को ‘यथार्थवाद का असली रूप’ मानते हैं। इस

संदर्भ में सत्यकाम लिखते हैं-“यथार्थवाद का असली रूप ‘आलोचनात्मक यथार्थवाद’ या ‘समाजवादी यथार्थवाद’ है, जिसमें जीवन के गह्रित या उज्वल पक्ष का एकांगी चित्रण न होकर संश्लष्ट, संतुलित और वैज्ञानिक चित्रण होता है।”¹⁴ इसके अलावा ‘हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद’ नामक पुस्तक में त्रिभुवन सिंह यथार्थवाद को जिन रूपों में देखते और विचार करते हैं, वे निम्नलिखित हैं:

1. आदर्शोन्मुख यथार्थवाद
2. समाजवादी यथार्थवाद
3. ऐतिहासिक यथार्थवाद
4. प्रकृतवाद
5. मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद
6. अतियथार्थवाद

हमें यह मानकर चलना होगा कि यथार्थ का रूप युगीन परिस्थितियों के आधार पर निर्मित होता है। चूंकि प्रत्येक युग की परिस्थितियाँ अपने समय के मुताबिक बदलती रहती हैं, इसलिए यथार्थ का बदलना भी स्वाभाविक है। विद्वानों में यथार्थवाद के मुद्दे पर बहस जारी है, अर्थात् यह भी कह सकते हैं कि यथार्थवाद को लेकर विद्वानों में मतभेद है। समकालीन (वर्तमान) समय में यथार्थ के विभिन्न रूप सामने आये हैं, जिनमें ‘जादुई

यथार्थवाद' की चर्चा जोरों पर है। यथार्थवाद के कुछ प्रमुख रूप इस प्रकार हैं:

1. प्राकृतिक यथार्थवाद,
2. अतियथार्थवाद
3. आदर्शोन्मुख यथार्थवाद
4. मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद
5. ऐतिहासिक यथार्थवाद
6. आलोचनात्मक यथार्थवाद
7. समाजवादी यथार्थवाद
8. जादुई यथार्थवाद

1. प्राकृतिक यथार्थवाद:

प्राकृतिक यथार्थवाद भी एक प्रकार की दार्शनिक अवधारणा है। अंग्रेजी में 'नेचुरलिज्म' (Naturalism) शब्द इसका पर्याय है। प्राकृतिक यथार्थवाद, यथार्थ को फोटोग्राफिक शैली में चित्रित करने पर विशेष बल देता है, जिसमें लेखक के संवेदना एवं निजत्व का कोई महत्त्व नहीं होता। प्राकृतिक यथार्थवाद, यथार्थ को पूर्ण रूप में नग्न कर अभिव्यक्त करने का पक्षधर रहा है। सत्यकाम प्राकृतिक यथार्थवाद के संबंध में लिखते हैं-"वह

यथार्थ को दस्तावेज़ का रूप दे देता है, जहाँ प्राकृतिक और जीवन विषयक तथ्यों का, जिन्हें हम नंगी आँखों और उँगलियों से देख और छू सकते हैं, उनका समस्त ब्यौरों के साथ वर्णन होता है।¹⁵ प्राकृतिक यथार्थवाद को प्रतिष्ठित एवं समृद्ध करने का श्रेय फ्रांस के विख्यात रचनाकार एमिली जोला को जाता है। उन्होंने अपने 'द एक्सपेरीमेंटल नावेल' नामक पुस्तक में गहराई से विचार करने के पश्चात चिंतन और कला के संदर्भ में इसकी प्रकृति एवं स्वरूप का निर्धारण किया है। इस समय के बाकी रचनाकारों ने भी अपने समय के बुर्जुवा समाज व्यवस्था को पूरी नग्नता के साथ अनावृत्त किया है, जिसमें जोला के अतिरिक्त फ्लाबेयर, गोगल, एब्सन आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। प्रकृतवाद को रोमेंटिसिज्म तथा आदर्शवाद का विरोधी माना जाता है और इसका मेल मानवतावाद से भी नहीं खाता, ऐसी मान्यताएं भी हैं। प्रकृतिवादी साहित्य जीवन को उसके वास्तविक नग्न रूप में प्रेषित करता है। वह किसी भी वस्तु को साहित्य के लिए गोपनीय नहीं समझता।

आचार्य नन्दुलारे वाजपेयी ने भी प्रकृतवाद को यथार्थवाद के नाम पर विकसित हुई नवीन शैली माना है- "जिसमें क्रमशः जीवन के स्वस्थ उपकरणों का अभाव दिखलाई पड़ने लगा। सत्य और यथार्थ के नाम पर जो रचनाएँ प्रस्तुत की गईं, उनमें प्रायः विकृत और असंतुलित चरित्रों की जीवन-गाथा रहा करती थी।"¹⁶ प्रकृतवाद, समाज की निर्धारित परम्पराओं

के बंधन को स्वीकार नहीं करता। वह अपनी शक्ति के संपूर्ण वेग से समाज के मर्यादाओं को अस्त-व्यस्त कर प्राणी को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता है। प्रकृतिवाद के महत्व पर ध्यान आकर्षित करते हुए शिवकुमार मिश्र लिखते हैं- “प्रकृतिवाद का विधेयात्मक पक्ष केवल वहाँ दिखलाई पड़ता है, जहाँ बावजूद अपने चिंतन की दुर्बल भूमिकाओं के, प्रकृतिवादी रचनाकारों ने बुर्जुवा व्यवस्था के नंगेपन को उभारा है, उसकी तहेदिल से भर्त्सना की है, उसे मुलजिमों के कटघरे में खड़ा किया है।”¹⁷ कई आलोचकों का मानना है कि प्राकृतिक यथार्थवाद, यथार्थवाद के दायरे में नहीं आता। इस संदर्भ में सुवास कुमार लिखते हैं-“प्रकृतवाद यथातथ्य तथा वास्तविक का मात्र फोटोग्राफिक चित्रण करता है, अतः यह यथार्थवाद से बिलकुल अलग है। हाँ, यथार्थवाद शिल्प के स्तर पर प्रकृतिवादी पद्धति का उपयोग अवश्य करता है, जैसे ‘मैला आँचल’ या ‘मुर्दाघर’ में। लेकिन प्रकृतवाद यथातथ्य और वास्तविक अंकन को ही लक्ष्य बना लेता है, जबकि यथार्थवाद उस अंकन की अभिव्यक्ति का माध्यम भर है और भूत, वर्तमान, भविष्य के सारे आसंगों से होकर उसका कथ्य प्रकृतवाद से बहुत आगे निकल जाता है।”¹⁸ शिवकुमार मिश्र प्राकृतिक यथार्थवाद को यथार्थवाद की मूल प्रवृत्ति से अलग मानते हैं। उनके अनुसार-“वस्तुतः मनुष्य के प्रति एक जीवनशास्त्रीय (बायलॉजिकल) दृष्टिकोण अपनाने के कारण ही प्रकृतिवादी लेखक के लिए मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा जैसी बात का कोई महत्व नहीं रह

जाता।¹⁹ उपर्युक्त बातों पर ध्यान देते हुए हम यह पाते हैं कि प्रकृतिवाद मानव स्वभाव और उसकी नियति को वंशानुक्रम और वातावरण के आधार पर निर्मित मानता है। वह मनुष्य को प्रकृति का समीपी मान कर उसमें आदिम प्रवृत्ति के दर्शन कर, उसके नैतिक आचरण और विवेक को निरर्थक सिद्ध करता है। वस्तुतः प्रकृतिवाद की प्रकृति यथार्थवाद से सर्वथा भिन्न है। इसलिए उसे यथार्थवाद से अलग करके देखा जाता है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं।

2. अतियथार्थवाद :

फ्रांस के अंद्रे ब्रेंता को अतियथार्थवादी आंदोलन का प्रणेता माना जाता है। अंग्रेजी में 'सुररियलिज्म' शब्द का प्रयोग इसके लिए किया जाता है। अतियथार्थवादी आंदोलन स्वच्छंदतावादी विद्रोह की परिणति ही है। इसके विकास में प्रथम विश्व युद्ध के बाद की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का विशेष योगदान रहा। अतियथार्थवाद की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए अजब सिंह लिखते हैं- "सहजानुभूति के प्रति तीव्र आस्था, विवेक के प्रति आशंका, व्यक्तिवाद के प्रति झुकाव, आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति, अचेतन मनः स्थिति का अंकन, शिल्प-विधान के प्रति विमुखता अतियथार्थवाद का प्रमुख वैशिष्ट्य है।"²⁰ इस संदर्भ में त्रिभुवन सिंह का मत है- "साहित्य में यथार्थवाद की अभिव्यक्ति जब समाज की मर्यादा एवं

परंपरा की सीमाओं का अतिक्रमण करके अत्यंत ही नग्न रूप धारण कर लेती है, तो उसे अतियथार्थवाद कहते हैं।²¹ अतः यह बात साफ हो जाती है कि अतियथार्थवाद में इसके चित्रण में अधिक से अधिक मर्यादाएं एवं परंपराओं को नजरअंदाज किया जाता है।

वास्तव में अतियथार्थवाद में समाज के कुत्सित सत्य को बिना किसी आवरण के ही प्रकट कर दिया जाता है। नैतिकता का कोई मोल नहीं रह जाता। इसलिए निषिद्ध सत्य को प्रकट करने में रचनाकार को कोई झिझक नहीं होती। इसमें समाज के प्रति अनास्था और अविश्वास साफ-साफ झलकता है। अतियथार्थवाद में अच्छे और बुरे के बीच भेद न कर ज्यों का त्यों प्रकट कर दिया जाता है। इसमें चित्रित यथार्थ पूरी तरह कल्पना प्रसूत होता है। रचनाकार अपनी रचना में जिस संसार के सत्य को प्रस्तुत करता है, वह स्वप्न में देखे गये संसार की तस्वीर होती है। यहाँ सामाजिक विद्रोह भी भौतिक धरातल पर न होकर मानसिक धरातल तक ही सीमित रहता है। शिवकुमार मिश्र अतियथार्थवाद को यथार्थवाद से भिन्न मानते हैं तथा लिखते हैं—“अतियथार्थवाद (सुररियलिज्म) के नाम से कला एवं साहित्य रचना को प्रभावित करनेवाला एक अन्य आंदोलन भी इस बीसवीं शताब्दी में विकसित हुआ है। गो, आज वह पृष्ठभूमि में चला गया है, किन्तु अपने उद्भव काल में उसने अनेक महत्वपूर्ण रचनाकारों को अपनी ओर आकर्षित किया था। मूलतः अंतश्चेतना से संबंधित होने के कारण इस अतियथार्थवाद

का भी वैज्ञानिक और वस्तुगत सत्य पर आधारित 'यथार्थवाद से कोई संबंध नहीं है। ये सब या तो खंड्य यथार्थ-दृष्टि के प्रतिनिधि आंदोलन या प्रवृत्तियाँ हैं, या इनमें वस्तुगत यथार्थ को विरूप करने का प्रयास किया गया है।"²²

वस्तुतः ध्यान से देखा जाए तो संतुलित समाज के विकास में अतियथार्थवाद रोड़े की तरह है। यथार्थ के नाम पर जिस तरह अतियथार्थवाद में स्वप्न-जगत को ही अधिक महत्त्व दिया गया, वह कुंठित मनोवृत्ति एवं एकांगी दृष्टिकोण का परिचायक है। इस संदर्भ में सुवास कुमार लिखते हैं- "जिसने (अतियथार्थवाद) चेतन वास्तविक जगत की बजाय स्वप्न जगत को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया। इस तरह अतियथार्थवाद हमें भौतिक जगत की 'तथ्यात्मक वास्तविकताओं' से काटकर दूर ले जा रहा था।"²³ उपर्युक्त तथ्यों और परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अतियथार्थवाद की कोई सार्थक उपलब्धि दिखलाई नहीं पड़ती। यह ऐसा यथार्थ भ्रम पैदा करता है, जिसमें जीवन का सत्य अन्तर्निहित न हो। मनुष्य के संबंधों को यथार्थ के धरातल पर देखा जाना चाहिए, जिससे व्यक्ति के सामाजिक जीवन का कलात्मक स्तर पर चित्रण हो सके।

3. आदर्शोन्मुख यथार्थवाद:

यथार्थ के साथ जहाँ आदर्श का समावेश होता है, वह मंच आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहलाता है। आदर्श निहित होने के बावजूद इसमें जीवन-सत्य

का संपूर्ण चित्र दृष्टिगोचर होता है। आदर्श का कार्य व्यक्ति को विषम परिस्थितियों में दिशा निर्देशित करना होता है। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद साहित्य में सकारात्मक दृष्टि के उन्मेष में सहायक है। यहाँ पात्रों के कुत्सित पक्षों का आदर्श के माध्यम से शुद्धिकरण किया जाता है। सामान्य-सी बात है कि कोई भी व्यक्ति सर्वथा दोषमुक्त नहीं होता। वह अपनी सामाजिक खामियों के कारण समाज और परिवार से बहिष्कृत किया जाता है। तत्पश्चात् वह प्रायश्चित्त करता है और अपनी कमियों को दूर कर, व्यक्तित्व एवं कृतित्व को निखारकर पुनः समाज में अपना स्थान प्राप्त करता है और समाज के लिए एक उदाहरण बन जाता है। आदर्शोन्मुख यथार्थ में भी व्यक्ति के चरित्र की पुनर्रचना ही होती है। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम हिन्दी उपन्यासों के संदर्भ में हुई। आदर्श की ओर उन्मुख यथार्थ को आदर्शोन्मुख यथार्थ की संज्ञा दी गई। इसके अन्तर्गत रचनाकार अपनी रचनाओं में सामाजिक विसंगतियों को उभारकर उससे उबरने का समाधान प्रस्तुत करता है। इसमें यथार्थ एवं आदर्श का संतुलित समन्वय होता है। हिन्दी साहित्य में इसके प्रथम प्रयोक्ता 'प्रेमचन्द' थे। वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को यथार्थ का श्रेष्ठ रूप मानते रहे। इस संदर्भ में वे लिखते हैं-
“वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो, उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के ही लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।”²⁴ प्रेमचंद ने अपने अधिकांश उपन्यासों में

सामाजिक और व्यक्ति सत्य को आदर्श के आवरण में लपेटकर प्रस्तुत किया है। यथा उनके 'गबन', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि' आदि शुरुआती दौर के उपन्यासों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के संदर्भ में त्रिभुवन सिंह के विचार कुछ इस प्रकार हैं- "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' मानव की दयनीय एवं कुरूपताओं से भरी हुई विषम परिस्थितियों की वास्तविक कठोरता में चमक जानेवाला वह काल्पनिक आलोक है, जिसके द्वारा जीवन से निराश, परिस्थितियों की मार से घबराये हुए तथा रास्ते में हताश मानव के अंदर आशा और विश्वास का संचार होता है।"²⁵ कहना न होगा कि इनके विचार में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद एक काल्पनिक प्रकाश की तरह है, जिसके सहारे व्यक्ति बिना हताश, निराश हुए कुरूप एवं वीभत्स वास्तविकता को आशावादी दृष्टि से देखता है।

4. मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद:

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद में मानव-मन के आंतरिक सत्य को यथार्थ के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद पाश्चात्य विचारक फ्रायड, युंग और एडलर के सिद्धांतों पर आधारित है। मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी रचनाकार साहित्य में मनोविश्लेषणात्मक ढंग से मानव के मन में छिपे हुए गूढ़ रहस्यों को अनावृत्त करता है। इसका कार्य वस्तु केन्द्रित न होकर व्यक्ति केन्द्रित होता है। यहाँ डॉ. शिवकुमार मिश्र का कथन सटीक जान पड़ता है- "मनोविश्लेषणवादी' का संबंध वस्तुजगत के यथार्थ से न हो

कर व्यक्ति मन के 'यथार्थ' से होता है, और उसकी दृष्टि व्यक्तिपरक दृष्टि होती है, वस्तुपरक नहीं।"26

शुरुआती दौर में वस्तुपरक दृष्टि के अभाव के चलते मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की काफी अवहेलना हुई। इसे यथार्थवाद के आंदोलन से अलग कर दिया गया। इस संबंध में डॉ. शिवकुमार मिश्र अन्यत्र लिखते हैं- "वह (मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी रचनाकार) व्यक्ति मन के कतिपय खास बिंदुओं और खास प्रवृत्तियों को ही, जो उसकी विचारधारा के चौखटे में फिट बैठती है, अपने अध्ययन का विषय बनाता है। व्यक्ति की निजता उसकी सामाजिक संदर्भता में ही परखी जा सकती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का समग्र अध्ययन उसकी सामाजिक संदर्भता से काटकर नहीं किया जा सकता। मनोविश्लेषणवादी, इस तथ्य को नजरअंदाज कर जाता है।"27 इस कथन से स्पष्ट होता है कि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद वैयक्तिकता को महत्त्व देता है। सामाजिक संदर्भ यहाँ गौण हो जाता है। उसका मानना है कि चूंकि साहित्य का अभिप्रेत हमेशा सामाजिक प्राणी रहा है, इसलिए उसकी अवहेलना कर व्यक्ति के संकुचित यथार्थ को चित्रित करना एकांगी दृष्टि का परिचायक है। हिन्दी साहित्य में यथार्थ के इस रूप को अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र आदि जैसे कई रचनाकारों ने अपनाया है।

5. ऐतिहासिक यथार्थवाद:

ऐतिहासिक यथार्थवाद का संबंध इतिहास की घटनाओं से होने के कारण इसे ऐतिहासिक यथार्थवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। इसमें इतिहास की किसी घटना या व्यक्ति को आधार बना कर रचना सृजन किया जाता है। देश-काल का अंतर आ जाने के कारण ही आज का यथार्थ कल के ऐतिहासिक यथार्थ में परिणत हो जाता है। जब रचनाकार ऐतिहासिक संदर्भ को लेकर वर्तमान समस्याओं का काट डूँढने की कोशिश करता है, तो उसे ऐतिहासिक यथार्थवाद कहा जा सकता है। परन्तु लेखक को इस बात का सर्वथा ध्यान रखना जरूरी है कि वह प्राचीनता का अंधानुकरण कतई न करे। ऐसे साहित्य का निर्माण जिसमें इतिहास को माध्यम बनाया गया हो और समाज का एकपक्षीय वर्णन किया गया हो और आदर्श को स्थापित करने के लिए कल्पना का अधिक पुट दिया गया हो तो उसे यथार्थवादी साहित्य नहीं कहा जा सकता। इस संदर्भ में त्रिभुवन सिंह लिखते हैं-
“ऐतिहासिक यथार्थवादी साहित्य तो वही होगा, जो तत्कालीन समाज एवं समाज का सजीव चित्र उपस्थित करने के साथ-साथ अपनी कला तथा कल्पनात्मक गुणों के द्वारा समस्याओं का हल प्रस्तुत करता चले।”²⁸ अर्थात् तत्कालीन समाज के यथार्थ का चित्रण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कर देना मात्र ही साहित्य नहीं बल्कि उसके लिए लेखक को समाज में व्याप्त समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना भी वांछनीय है।

अपने समय के वास्तविक यथार्थ का चित्रण करनेवाला साहित्य ही सर्वश्रेष्ठ होने का दर्जा प्राप्त करता है और कालान्तर तक जीवित रहता है। अपने समय के वास्तविक यथार्थ को ढूंढने का सफल प्रयास ही ऐतिहासिक यथार्थवाद का असली कर्तव्य है। ऐतिहासिक यथार्थवाद की नींव पर रचना करनेवाले रचनाकार की दृष्टि का निष्पक्ष होना बहुत ही अहम हो जाता है। कभी-कभी तत्कालीन समाज के चित्रण में आधुनिक दृष्टि को ही पैमाना बना लिया जाता है जिससे ऐतिहासिक यथार्थवाद वाली रचना का विकृत हो जाना लाजिमी है। इस संदर्भ में त्रिभुवन सिंह का मंतव्य है- “ऐतिहासिक यथार्थ की एकमात्र कसौटी लेखक की निष्पक्ष दृष्टि का होना। यदि लेखक ऐतिहासिक यथार्थ का चित्रण करते समय अपने वैयक्तिक आग्रहों से ऊपर नहीं उठ पाया, तो उसकी रचना में विकार का आना स्वाभाविक है।”²⁹

रचना में किसी भी तरह का विकार आना रचना की सफलता और सार्थकता में बाधा उत्पन्न कर सकता है। रचनाकार का निष्पक्ष होना रचना के लिए परम आवश्यक तत्व है। कभी-कभी रचनाकार भावनाओं में बह जाता है और उसकी रचना में उसके विचार की छाया दिखाई पड़ने लगती है और इस तरह की घटना सिर्फ लेखक के लिए ही नहीं बल्कि समाज के लिए भी घातक सिद्ध हो सकती है।

6. आलोचनात्मक यथार्थवाद:

आलोचनात्मक यथार्थवाद का संबंध दर्शन से है। यह यथार्थवाद का एक प्रमुख रूप है, जिसे उपन्यास साहित्य से जोड़कर देखा जाता रहा है। परन्तु दर्शनशास्त्र और साहित्य में व्यवहृत आलोचनात्मक यथार्थवाद एक नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी में सात अमेरिकी दार्शनिकों ने संयुक्त प्रयास से 'क्रिटिकल रियलिज्म' नामक पुस्तक को प्रकाशित किया। इस पुस्तक के माध्यम से उन्होंने आलोचनात्मक यथार्थवाद को 'यथार्थवाद' के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। मार्क्सवादी रचनाकार इसे बुर्जुवा यथार्थवाद के नाम से संबोधित करते हैं, वहीं अंस्ट्र फिशर इसे 'स्वच्छंदतावाद का आरंभिक चरण मानकर इसमें रोमानी किस्म की प्रतिक्रियाएँ देखते हैं। आलोचनात्मक यथार्थवाद में सामाजिक विकृतियों, विद्रूपताओं और विसंगतियों के प्रति रचनाकार का रवैया आलोचनात्मक होता है। पूंजीवादी समाज के शोषण, दमन, अन्याय, अत्याचार आदि विकृतियों के प्रति व्यंग्य और आलोचना होने के कारण, इसे आलोचनात्मक यथार्थवाद का नाम दिया गया। वर्तमान व्यवस्था के अमानवीय रूख और खोखले आदर्शों के प्रति अनास्था, विरोध, विद्रोह और अस्वीकार आलोचनात्मक यथार्थवादी रचनाकारों की केन्द्रीय विशेषता थी। आलोचनात्मक यथार्थवाद को परिभाषित करते हुए सत्यकाम लिखते हैं- "आलोचनात्मक यथार्थवाद, यथार्थवाद का वह रूप है जो इंद्रिय ग्राह्य बोध को आधार मानकर व्यक्ति और समाज की वास्तविकताओं का उद्घाटन और विश्लेषण सौन्दर्यशास्त्रीय

अनुभवों के रूप में करता है। वह जीवन की सच्चाइयों का तटस्थ अवलोकन भी करता है, पर प्रकृतिवाद की तरह अपने को इतने ही तक ही सीमित नहीं कर लेता। वह केवल समाज और व्यक्ति के जीवन के निम्न, ऋणात्मक, निन्दनीय और गर्हित पक्षों को ही अपना चित्रणीय विषय नहीं बनाता; वरन् जीवन के उज्वल और उदात्त पक्षों पर भी बल देता है। उसकी दृष्टि और पद्धति आलोचनात्मक होती है तथा वह केवल सतह पर तैरते यथार्थ का चित्रण न कर उसकी गहराइयों में प्रवेश करता है और यथार्थ की भीतरी पतों को भेदकर सामाजिक सत्य का उद्घाटन करता है।³⁰ अर्थात् जब तक यथार्थ की गहराई तक न जाया जाए और सतह पर तैरते यथार्थ को ही सत्य मान कर उसकी आलोचना कर दी जाए तब हम असली सच्चाई को जाने बगैर उस यथार्थ के छद्म रूप को ही ग्रहण कर पाएंगे और हमारी अवधारणा उसके मुताबिक ही हो जाएगी।

7. समाजवादी यथार्थवाद:

यथार्थवादी कलांदोलन का अगला और नव्यतम सोपान है- 'समाजवादी यथार्थवाद'। सोवियत लेखकों की सन् 1934 ई. में हुए पहले (कांग्रेस) अधिवेशन में मैक्सिम गोर्की ने सर्वप्रथम 'समाजवादी यथार्थ' का नाम लेते हुए उसके चरित्र पर प्रकाश डाला था। आगे चल कर मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन के अन्तर्गत समाजवादी यथार्थ को ही सर्वोच्च साहित्यिक

एवं कलात्मक प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठा मिली। इसके मूल में 'समाजवाद' का चिंतन है, जो पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की अराजकता को खत्म करने के लिए प्रतिबद्ध है। आम आदमी को प्रतिष्ठित करना और पूंजीवादी संस्कृति या बुर्जुवा संस्कृति का विरोध करना इसका मुख्य लक्ष्य है। वह समाज में व्याप्त शोषण के मूल में पूंजीवादी समाज-व्यवस्था को मुख्य कारक समझता है। पूंजीवादी समाज व्यवस्था में सर्वहारा को हमेशा दबाया और कुचला गया है। पूंजीवादी समाज व्यवस्था को निरस्त कर उसके स्थान पर समाजवादी समाज-व्यवस्था को स्थापित करना समाजवादी यथार्थवाद का परम ध्येय है। समाजवादी यथार्थ के केन्द्र में मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन द्वारा प्रतिष्ठित वैज्ञानिक समाजवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का विकासवादी सिद्धान्त है। समाजवादी यथार्थवाद को यथार्थवाद की नई मंजिल मानते हुए शिवकुमार मिश्र लिखते हैं- "समाजवादी यथार्थवाद' यथार्थवादी कला-आंदोलन के विकास की नव्यतम मंजिल है। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की नई विरूपता से आक्रान्त, उसका निर्मम उद्घाटन करने तथा उसे अन्तर्मन से धिक्कारने के बावजूद भविष्य की उन रचनात्मक शक्तियों को देख पाने की आलोचनात्मक यथार्थवादियों की दृष्टि-असमर्थता के कारण ही, जो पूंजीवादी व्यवस्था को ध्वस्त करते हुए एक नये और मंगलमय भविष्य को उजागर कर सके। समाजवादी समाज की स्थापना के साथ ही, एक नये प्रकार की दृष्टि के उपस्थापन की आवश्यकता महसूस की गई। इस नई यथार्थ-दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए उसके पुरस्कर्ताओं ने दावा किया कि वह न

केवल आलोचनात्मक यथार्थवादियों की एकांगी तथा अपूर्ण यथार्थ-दृष्टि की तुलना में मनुष्य, समाज, जीवन तथा उसके यथार्थ को उनकी संपूर्णता में देखने और प्रस्तुत करनेवाली है, वरन् वह एक रचनात्मक दृष्टि भी है, जिससे भविष्य के नये और यथार्थवादी कला-सृजन की महत्वपूर्ण भूमिकाएँ भी संलग्न हैं।³¹ डॉ. शिवकुमार मिश्र की बातों से यहाँ स्पष्ट है कि पूंजीवादी व्यवस्था की अमानवीयता से आक्रान्त व्यक्ति और समाज के यथार्थ को निर्ममता से उधारने के लिए एक भविष्योन्मुख और रचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता उस युग की बहुत ही जरूरी और महत्वपूर्ण आवश्यकता थी। बेलगाम पूंजीवादी व्यवस्था की जड़ को कमजोर करने और उसे जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए संपूर्ण क्रान्ति की आवश्यकता थी। समाजवादी यथार्थवाद में व्यक्ति और समाज के अपूर्ण यथार्थ को समग्रता में देखा जाता है। समाजवादी यथार्थवाद के संदर्भ में अजब सिंह का विचार बहुमूल्य और सटीक जान पड़ता है-“समाजवादी यथार्थवाद’ को लेखक संसार के परिवर्तन की संपूर्णता में देखते हैं। ‘समाजवादी यथार्थवाद’ संघर्ष का परिणाम है। सच्चाई के लिए हर समाज में संघर्ष करना होता है। केवल संघर्ष के रूप बदल जाते हैं। यथार्थ संघर्ष के माध्यम से ही समाजवादी यथार्थवादी लेखक अपना रास्ता बनाता है। इसलिए समाजवादी यथार्थवादी साहित्यकार के पास कहने, सुनने एवं संवाद करने की एक शैली होती है।³² अजब सिंह की उपर्युक्त पंक्तियाँ यह साबित करती हैं कि संघर्ष के परिणामस्वरूप ही समाज में परिवर्तन संभव होता है और वही सामाजिक यथार्थवाद का प्राणतत्त्व है।

समाज में नवीन और समाजोनुकूल उपलब्धियों के लिए संघर्ष एक अनिवार्य तत्त्व है और समाजवादी यथार्थवादी रचनाकार इसी संघर्ष का हिस्सा बनकर समाज व्यवस्था की बुराइयों पर चोट करता है। अजब सिंह सामाजिक यथार्थवाद को संप्रेषण की एक सार्थक शैली के रूप में स्वीकार करते हैं। समाजवादी यथार्थवादी रचनाकार का आग्रह वस्तुगत यथार्थ को केवल सतही तौर पर चित्रित करना नहीं होता है, वरन वह समाज के रेशे-रेशे को उघारने की चेष्टा करता है और एक सुंदर स्वस्थ समाज के नवनिर्माण का सपना साकार करता है। उस भविष्यदृष्टि को सामने प्रस्तुत करता है जो आशा और आस्थावादी मूल्यों को अपने में समाहित किए हुए है। इस संदर्भ में प्रेमलता जैन अपना विचार प्रस्तुत करती हैं- *“समाजवादी यथार्थवाद में मानव व्यक्तित्व की समग्रता, विशदता के साथ व्याख्या की गई है। इसका साहित्यकार चरित्र सृष्टि को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही चित्रित कर सकता है।”*³³

समाजवादी यथार्थवाद के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि यह अन्य यथार्थवाद के तुलना में जनता के अधिक करीब है। पूंजीवादी शक्ति के चंगुल से, उसके शोषण और अत्याचार से आक्रान्त जनता को मुक्ति दिलाने के लिए समाजवादी यथार्थवाद प्रतिबद्ध है। इसके मूल में वर्ग संघर्ष-रहित एवं समतामूलक समाज की स्थापना निहित है।

8. जादुई यथार्थवाद:

अंग्रेजी में 'मैजिकल रियलिज्म' शब्द हिन्दी के 'जादुई यथार्थवाद' के पर्याय के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में जर्मन चित्रकारों के चित्रों का विश्लेषण करते हुए इस शब्द का प्रथम प्रयोग फ्रेंज रोह ने किया। सन् 1950-1970 ई. के मध्य दक्षिण अमेरिका के कई उपन्यासकारों ने कुछ ऐसे उपन्यास लिखे जो परम्परा और शैली में भिन्न थे। इन उपन्यासों में अतीत और वर्तमान का, इतिहास और मिथक का, वास्तविकता और फैंटेसी का, यथार्थ और भ्रम का कलात्मक समन्वय किया गया था। अब प्रश्न यह था कि ऐसे यथार्थ को किस श्रेणी में रखा जाए क्योंकि यह अपने प्रचलित यथार्थ की श्रेणी से बिल्कुल अलग था। इस स्थिति में इसे 'जादुई यथार्थवाद' के नाम से अभिहित किया गया। सुवास कुमार लिखते हैं- "पुराने रिवाज और विश्वास तथा नवीन वैज्ञानिक-तर्कवाद दोनों परस्पर एक-दूसरे पर हावी होते रहते हैं और इस प्रकार के सह-अस्तित्व में जादुई यथार्थवाद जन्म लेता है। जादुई यथार्थवाद में कृषक समुदाय, ग्राम समाज अथवा कबीलों के जीवन से ग्रहण किया हुआ कथा का कच्चा माल होता है। ऐसे सामुदायिक जीवन के मिथकों को चित्रित करने की एक जटिल पद्धति का ही नाम है-जादुई यथार्थवाद।"³⁴ जादुई यथार्थवाद में जीवन की

सच्चाइयों को मिथक और परिकथा के सहारे चित्रित किया जाता है। रचनाकार अपनी कल्पना और फैंटेसी के माध्यम से ऐसे यथार्थ को अभिव्यक्त करता है, जो अनोखा और विलक्षण है। आज का दौर विडम्बनाओं का दौर है। समाज और संस्कृति दोनों का बुरा हाल है। पाश्चात्य संस्कृति आज की पीढ़ी पर अपना शिकंजा मजबूत करते जा रही है। बाजार का बोलबाला है, मॉल कल्चर की चपेट में स्थानीय और देशी बाजारों का खस्ता हाल है। बेरोजगारी कम होने का नाम नहीं ले रही, शिक्षा का अभाव सर्वव्याप्त है, भ्रष्टाचार की मार से जनता त्राहि-त्राहि कर रही है। दिन-ब-दिन गरीबी बढ़ती जा रही है, घोटालों का दौर जारी है। समाज में चारों ओर विलक्षणता दृष्टिगोचर हो रही है। यही कारण है कि 'जादुई यथार्थवाद' को इतनी तवज्जोह मिली है और यह हाल के दिनों में साहित्य में अपना रंगत बिखेर रहा है। हिन्दी के मूर्धन्य कहानीकार उदय प्रकाश जादुई यथार्थवाद के पारखी और पुरस्कर्ता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इस संदर्भ में उनकी प्रसिद्ध कहानी 'टेपचू' को देखा जा सकता है।

वर्तमान दौर की विडम्बनाओं को चित्रित करने के लिए 'जादुई यथार्थवाद' अनुकूल जान पड़ता है क्योंकि आज के समय के चित्र को साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत करने के लिए रचनाकार के लिए फैंटेसी का सहारा लेना बहुत ही जरूरी है।

2.3.2. सामाजिक यथार्थ क्या है?

समाजवादी यथार्थवाद के मूल में जहाँ आर्थिक यथार्थ का चित्रण होता है, वहीं सामाजिक यथार्थ के मूल में समाज का बहुआयामी यथार्थ विन्यस्त होता है। समाज के वास्तविक यथार्थ को ज्यों का त्यों साहित्य में चित्रण कर देना बहुत ही दुरूहपूर्ण कार्य होता है। इसका मूल कारण यह है कि यह किसी फोटोग्राफर द्वारा लिया गया छायाचित्र नहीं होता, बल्कि किसी साहित्यकार की लेखनी द्वारा चित्रित एक ऐसा चित्र होता है, जिसमें साहित्यकार के रंग-बिरंगे कल्पना के रंगों के साथ-साथ उसकी अनुभूतियों के भी रंग मिले होते हैं। सामाजिक विडंबनाओं, भ्रष्टाचार से ग्रसित समाज, वैयक्तिक स्वार्थों से आक्रान्त और पीड़ित समाज और उसकी विभिन्न दयनीय परिस्थितियों का उसके वास्तविक रूप में चित्रण ही समाजवादी यथार्थवाद का प्रधान लक्ष्य है। साहित्यकार अपने सृजन में तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर ही अपने समाज का नैतिक, आर्थिक मूल्यांकन करता है। समाज का कोरा वर्णन करना उसका लक्ष्य बिलकुल नहीं होता। सामाजिक यथार्थ की संकल्पना को विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। इस संदर्भ में डॉ. त्रिभुवन सिंह लिखते हैं- *“सामाजिक यथार्थवाद का अर्थ है- समाज की वास्तविक अवस्था का यथार्थ-चित्रण।”*³⁵ वे अन्यत्र लिखते हैं- *“सामाजिक विषमताओं, भ्रष्टाचारों तथा वैयक्तिक स्वार्थों से आक्रान्त पीड़ित समाज की दयनीय परिस्थितियों को उसके वास्तविक रूप में समाज के सामने प्रस्तुत करना सामाजिक यथार्थवाद का प्रधान लक्ष्य है।”*³⁶ सामाजिक यथार्थ वस्तुतः समष्टि का यथार्थ है, जिसमें

रचनाकार आर्थिक यथार्थ के साथ-साथ सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक यथार्थ का भी मूल्यांकन करता है और साथ ही साथ समाज में घटित सभी वास्तविक कार्य-व्यापार का सूक्ष्म और व्यापक अंकन भी किया करता है। स्वातंत्र्योत्तर परिवेश पर दृष्टिपात करें तो हम पायेंगे कि वहाँ विसंगति, विद्रूपता और विडंबना के अलावा कुछ नहीं दिखलाई पड़ता है। सामाजिक यथार्थ अंकन स्वातंत्र्योत्तर साहित्य की उपलब्धि है। सामाजिक यथार्थ का सामान्य अर्थ है- समाज का यथार्थ अर्थात् समाज की वास्तविकता का चित्रण।

‘प्रेमचंदोत्तर उपन्यास साहित्य में यथार्थवाद’ पर अपना विचार प्रस्तुत करते हुए त्रिभुवन सिंह लिखते हैं- “प्रेमचन्द जी के बाद लिखे जानेवाले सामाजिक उपन्यासों में उनके साहित्य की भाँति हमें आदर्शवादी चित्रों के दर्शन नहीं होते, बल्कि समाज की वास्तविकता को अधिक से अधिक उसके प्रकृत रूप में लाने का ही प्रयत्न ही उनमें किया गया है। उपन्यासों के अंदर चित्रण की इस वास्तविक शैली को ‘सामाजिक यथार्थवाद’ के नाम से अभिहित किया जा सकता है।”³⁷ यहाँ एक बात तो साफ हो जाती है कि किसी भी आलोचक की दृष्टि में समाज की वास्तविक अवस्था का अंकन ही सामाजिक यथार्थवाद है।

सामाजिक यथार्थ का मुख्य ध्येय समाज में व्याप्त तमाम विसंगतियों, अव्यवस्थाओं को समाज के सम्मुख प्रस्तुत करना है। परन्तु साहित्य में समाज की वास्तविक अवस्था को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना सामाजिक यथार्थ का लक्ष्य नहीं होता। इसको त्रिभुवन सिंह के निम्न विचारों से भलीभाँति समझा जा सकता है- “सामाजिक यथार्थ का अर्थ है समाज की वास्तविक अवस्था का यथार्थ-चित्रण। परन्तु साहित्य के अंदर किसी भी वस्तु का तद्वत चित्र उतारकर रख देना कठिन होता है, क्योंकि साहित्यिक चित्र कैमरे द्वारा लिया गया चित्र नहीं होता, बल्कि वह साहित्यकार के लेखनी से लिया गया ऐसा चित्र होता है, जिसमें साहित्यकार के अनुभव एवं कल्पना के सुंदर रंग ढले हुए होते हैं।”³⁸

2.3.2.1. यथार्थ के विविध चेहरे और सामाजिक यथार्थ:

आधुनिक युग के साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति के रूप में यथार्थ स्वयं को स्थापित कर चुका है। जब तक साहित्य, जीवन-सत्य से नहीं जुड़ जाता वह ग्राह्य नहीं बन पाता। जीवन-सत्य से संपृक्त साहित्य के सामाजिक सरोकार का दायरा बहुत बढ़ जाता है।

‘यथार्थ’ के स्वरूप में समयानुकूल परिवर्तन होता है। स्वातंत्र्योत्तर यथार्थ पर दृष्टिपात करें तो इसमें आमूल-चूल परिवर्तन लक्षित होते हैं। वर्तमान में यथार्थ को भिन्न-भिन्न रूपों में देखा जा सकता है। जो निम्नवत

है: सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, भौतिक, भाषा एवं शिक्षा संबंधी यथार्थ, पारिवारिक, भ्रष्टाचार से संबंधित, प्रेम के बदलते रूप, बेरोजगारी, घूसखोरी, नारी-जागरण से संबंधित यथार्थ, भाई-भतीजावाद, बुजुर्ग-समस्या, किसानों की समस्या, दलित-समस्या, आदिवासी समस्या, पाश्चात्य-संस्कृति का दुष्प्रभाव, बलात्कार आदि उपर्युक्त तमाम सामाजिक सत्य यथार्थ का चेहरा बनाते हैं, जिन्होंने समाज को परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है। सामाजिक यथार्थ का सामान्य अर्थ है- समाज का यथार्थ अर्थात् समाज की वास्तविकता का चित्रण। समाज में घटनेवाली तमाम घटनाओं को सामाजिक यथार्थ के अन्तर्गत चित्रित किया जाता है। इसमें सामाजिक सत्य महत्व रखता है न कि व्यक्ति सत्य। हिन्दी साहित्य कोश में सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में लिखा गया है-“सामाजिक यथार्थ दार्शनिक दृष्टि से प्रत्यक्ष जगत से बिलकुल भिन्न है। इसका प्रत्यय मानव मस्तिष्क से संबंधित है, किंतु सामाजिक यथार्थ के भीतर वे शक्तियाँ आती हैं, जो मस्तिष्क से बाहर हैं। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों का समुच्चय ही सामाजिक यथार्थ है। ये शक्तियाँ मिलकर उस सामाजिक वातावरण का निर्माण करती हैं, जिनसे हमारे संस्कारों की सर्जना होती है।”³⁹

समाज में जो विसंगति, विषमता, भ्रष्टाचार, अव्यवस्था और स्वार्थपरता निहित है, उसे उसके वास्तविक रूप में ही समाज के समक्ष

प्रस्तुत करना सामाजिक यथार्थ का ध्येय है। इसी क्रम में कुलदीप कौर लिखती हैं- “सामाजिक यथार्थ ऐसी रचना-प्रक्रिया है, जिसमें लेखक बिना किसी भय अथवा पक्षपात के सामाजिक विसंगतियों, विडंबनाओं एवं भ्रष्टाचारों से त्रस्त समाज की दयनीय स्थितियों को उसके यथार्थ रूप में समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हुए समाज को प्रगति की ओर अग्रसर करता है तथा सामाजिक उत्थान की शक्तियों को पहचानते हुए मूल्यों की स्थापना करता है।”⁴⁰

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक यथार्थ, समाज का यथार्थ चित्रण है। इसके माध्यम से ही समाज का वृहत्तर सत्य सामने लाया जाता है। रचनाकार बिना भय के समाज की तमाम विडंबनाओं को आत्मसात करते हुए बड़े ही सूक्ष्म तरीके से उन्हें समाज के सामने लाता है।

2.4. समाज, साहित्य, यथार्थ और सामाजिक यथार्थ के पारस्परिक अन्तर्संबंध और अन्योन्याश्रिता:

समाज की संकल्पना के साथ ही साहित्य जुड़ा हुआ है। साहित्य के अभाव में एक सुगठित, स्वस्थ समाज की कल्पना ही बेमानी है। साहित्य के अभाव में किसी भी समाज का अस्तित्व अपने उचित आकार में नहीं हो सकता। समाज है और उसका साहित्य भी है, तो जाहिर-सी बात है कि किसी भी समाज का यथार्थ भी होगा, जिसे उस समाज का साहित्यकार वर्ग अपनी

रचना में स्थान देता है। इस संदर्भ में जो मुद्दे की बात है, वह यह है कि यथार्थ तो यथार्थ ही होता है और उसे ज्यों का त्यों चित्रित नहीं किया जा सकता, बल्कि उसे सहित्यानुकूल बना कर लेखक उसका चित्रण करता है जबकि सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में रचनाकार द्वारा समाज की वास्तविक स्थिति का चित्रण अपेक्षित होता है। ऐसा कहा जाता रहा है कि 'साहित्य समाज का दर्पण होता है' और 'साहित्य ज्ञानराशि का कोष है'। इसके अलावा साहित्य मनुष्य के विविधानुभवों और ज्ञान का कलात्मक रूप भी तो है। साहित्य की सार्थकता और उपयोगिता समाज के बहुआयामी यथार्थ को अभिव्यक्त करने में ही है। साहित्य 'कला-मात्र' के लिए न होकर 'जीवन के लिए' हो तो वह सार्थक एवं सफल सिद्ध होता है तथा अपने अस्तित्व को बनाये रखने में सक्षम होता है। साहित्य को 'जीवन की आलोचना और व्याख्या' माननेवाले प्रेमचंद साहित्य की अवधारणा पर अपना विचार प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं- *"साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुंदर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सच्चाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों।"*⁴¹

जीवन सत्य से रहित अभिव्यक्ति साहित्य के लिए अनुपयोगी और निष्प्रभ है। प्रेमचंद इन तत्त्वों को साहित्य में जरूरी समझते हैं। पाठक को

गलत सही के बीच का फर्क न बतानेवाले लेखक को प्रेमचंद असफल घोषित करते हैं। साहित्य को परिभाषित करते हुए तथा साहित्य की लोक प्रतिबद्धता का उल्लेख करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं- “मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्गीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर दुःख कातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।”⁴²

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य और जीवन के बीच यथार्थ एक पगडंडी है जो तब अधिक स्पष्टता से लक्षित की जा सकती है, जब उसका नियामक सामाजिक सत्य हो। सामाजिक यथार्थ ही साहित्य को उसके ऐतिहासिक चरित्र से परिचित कराता है। दूसरी ओर, साहित्य समाज के लिए प्रयोजनीय एवं विश्वसनीय हो सके, इस संदर्भ में भी सामाजिक यथार्थ की महत्ता अक्षुण्ण ठहरती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन का भाष्य है साहित्य और साहित्य का जीव्य है यथार्थ, विशेषकर सामाजिक यथार्थ। समाज मानव के व्यक्तित्व को आकार देता है। साहित्य को आकार देने में समाज का योगदान सर्वविदित है। समाज ही वह आधार है जिस पर साहित्य रूपी अधिरचना का निर्माण हुआ करता है। परंतु अपने सर्जन के पश्चात् साहित्य स्वयं भी एक आधार में परिवर्तित हो जाता है क्योंकि यह भी समाज को प्रभावित कर आकार देने

लगता है। इस प्रकार व्यक्ति के निर्माण में एक ओर समाज की भूमिका लक्षित होती है तो दूसरी ओर साहित्य की भी। यथार्थ साहित्य के सुस्वास्थ्य हेतु प्रयोजनीय है। इसके अभाव में साहित्य वायवीय हो जाता है। यथार्थ के विविध रूपों में सामाजिक यथार्थ साहित्य को अति प्रिय है क्योंकि यह व्यक्ति तथा उसके समाज दोनों को ही अपनी चिंता का केंद्र बनाता है। व्यक्ति, समाज, यथार्थ विशेषकर सामाजिक यथार्थ एवं साहित्य का समाहार किसी भी रचनाकार की रचना-प्रक्रिया को निर्धारित करने वाली वस्तुएं हैं। इनके परस्पर सामंजस्य से ही साहित्य का सुंदर भवन निर्मित होता है। सामाजिक यथार्थ साहित्य हेतु सर्वदा प्रयोजनीय है।

संदर्भ-सूची:

1. दूबे, सरला, सामाजिक विघटन तथा पुनर्गठन, रंजन प्रकाशन, आगरा, संस्करण-1982, पृष्ठ संख्या-156
2. कुमार, आनंद, समाज और साहित्य, हिन्दी मंदिर प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-1938, पृष्ठ संख्या-5
3. 'उद्धृत', द्विवेदी, सुनील कुमार, साहित्य का समकालीन संदर्भ, मानव प्रकाशन, कोलकाता, प्रथम संस्करण-2013, पृष्ठ संख्या -42
4. उपरिवत्, पृष्ठ संख्या -42
5. https://hi.wikipedia.org/wiki/हिन्दू_वर्ण_व्यवस्था
6. http://www.sahityashilpi.com/2008/09/blog-post_3518.html
7. शुक्ल, आचार्य, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, चौबीसवां संस्करण-2048 वि., पृष्ठ संख्या -3
8. द्विवेदी, आ. हजारीप्रसाद, साहित्य-सहचर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2005, पृष्ठ संख्या-3
9. <http://vle.du.ac.in/mod/book/print.php?id=12741&chapterid=27064>
10. सिंह, कामेश्वर प्रसाद (अतिथि सं.), संबोधन, अंक-1-2, अक्टूबर-2012, जनवरी- 2013, पृष्ठ संख्या-113
11. सिंह, त्रिभुवन, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लिमिटेड, पंचम संस्करण-2054 वि., पृ. संख्या-79
12. मणेर, डॉ. शहाजहान, सामाजिक यथार्थ और कथाकार संजीव, श्रुति पब्लिकेशन, जयपुर, प्रथम संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-54

13. उपरिवत्, पृष्ठ संख्या -54
14. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचन्द, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-59
15. उपरिवत्, पृष्ठ संख्या-59
16. (साभार) सिंह, त्रिभुवन, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लिमिटेड, पंचम संस्करण-2054 वि., पृ. सं.-91
17. मिश्र, शिवकुमार यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृष्ठ सं.-92
18. कुमार, सुवास, गल्प का यथार्थ: कथालोचन के आयाम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृष्ठ संख्या-29
19. मिश्र, शिवकुमार यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-86-87
20. सिंह, डॉ. अजब, यथार्थवाद पुनर्मूल्यांकन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण-1998, पृष्ठ संख्या-25
21. सिंह, डॉ. त्रिभुवन (सं.), सिंह, डॉ. विजय बहादुर, साहित्यिक निबंध, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-31
22. मिश्र, शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-51
23. कुमार, सुवास, गल्प का यथार्थ: कथालोचन के आयाम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृ. सं-19

24. प्रेमचंद, कुछ विचार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ संख्या-50
25. सिंह, त्रिभुवन, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लिमिटेड, पंचम संस्करण-2054 वि., पृष्ठ संख्या-235
26. मिश्र, शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-26
27. उपरिवत्, पृष्ठ संख्या-26
28. सिंह, त्रिभुवन, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., वाराणसी, पंचम संस्करण-2054 वि., पृष्ठ संख्या-68
29. उपरिवत्, पृष्ठ संख्या-69
30. सत्यकाम, आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1994, पृष्ठ सं.-7
31. मिश्र, शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-66
32. सिंह, डॉ. अजब, यथार्थवाद पुनर्मूल्यांकन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण-1998, पृष्ठ संख्या-34
33. जैन, प्रेमलता, समाजवादी यथार्थवाद और हिन्दी कथा-साहित्य, शब्दसृष्टि, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2012, पृष्ठ संख्या-27
34. कुमार, सुवास, गल्प का यथार्थ : कथालोचन के आयाम, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृष्ठ संख्या-93

35. सिंह, त्रिभुवन, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., वाराणसी पंचम संस्करण-2054 वि., पृष्ठ सं.-242
36. उपरिवत् , पृष्ठ संख्या- 242
37. सिंह, त्रिभुवन, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., वाराणसी पंचम संस्करण-2054 वि., पृष्ठ संख्या-242
38. उपरिवत्, पृष्ठ संख्या-242
39. वर्मा, (सं.) धीरेन्द्र, हिन्दी साहित्य कोश भाग-1, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, पंचम संस्करण-2005, पृष्ठ संख्या-758
40. कौर, डॉ. कुलदीप, बलदेव वंशी का काव्य: सामाजिक यथार्थ, अनंग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006, पृष्ठ संख्या-25
41. प्रेमचंद, कुछ विचार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2008, पृष्ठ संख्या-06
42. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, निबंधों की दुनिया, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-65